संस्कृत प्रहसनों में सामाजिक चित्रण

डॉ0 अनीता भोज*

सारांश

मानव जीवन में हास्य का विशिष्ट स्थान है, अन्य भाव जैसे– क्रोध तथा प्रेम इत्यादि का अस्तित्व पशु–पक्षी आदि जीवों में देखा जाता है, परन्तु हास्य का सीधा सम्बन्ध मनुष्य के जीवन से होता है। जब समाज को प्रतिदिन घटित होने वाली घटनायें पीड़ित करने लगती हैं, तब एक सच्चा कलाकार इस पर विचार–विमर्श करने के लिये विवश हो जाता है। यदि कोई व्यक्ति अपनी धार्मिक प्रतिष्ठा और राजनीतिक अधिकार के कारण श्रद्धा तथा सम्मान का पात्र बन जाता है किन्तु गुप्तरूप से समाज के हित के विरुद्ध कार्यों में लिप्त रहता है, तो उसे समाज को पतन की ओर ले जाने का दोषी ठहराया जाता है। ऐसे व्यक्ति, कलाकारों की लेखनी के लिए प्रेरणा के स्रोत बन जाते हैं। इनके चारित्रिक दोषों का भंडाफोड़ करना लेखक के लिए समाज के हित में अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। हास्य की कलम तलवार से भी अधिक मजबूत होती है। जिसका आघात तो बाहर से नहीं दिखाई देता, किन्तु उसकी चोट भीतर से मर्म को घायल कर देती है और वह अपने अभिष्ट सिद्धि में सफल हो जाती है। संस्कृत प्रहसनों पर तत्कालीन समाज एवं संस्कृति का प्रभाव होता है जिसे प्रहसनकार अपनी रचना का मुख्य विषय बनाते हैं।

संस्कृत प्रहसनों में सामाजिक चित्रण।

आज मानव मस्तिष्क इतना रहस्यमय एवं विचित्र है कि वह जिस समय किसी व्यक्ति के प्रति श्रद्धा के भाव व्यक्त करता है उसी समय वह उसका उपहास करने से भी समर्थ हो सकता है, आज विभिन्न समाचार पत्रों में बड़े–बड़े नेताओं के व्यंग्य चित्र प्रस्तुत किये जा रहे हैं। उनका यह तात्पर्य नहीं है कि उन नेताओं के प्रति कलाकार के हृदय में घृणा के भाव उदित हो गये हैं। आज के समय में कवियों, लेखकों, कलाकारों, महात्माओं और संतों पर जो व्यंग्य किये जाते हैं उनमें उपहास की प्रवृत्ति अवश्य रहती है पर वे प्रत्येक तिरस्कार अथवा घृणा के सूचक नहीं होते, यही कारण है कि प्रत्येक साहित्य के विविध अंगों–काव्य, नाटक, निबंध, रेखाचित्र, भावचित्र आदि में हास्य और व्यंग्य को स्थान मिला है।

मानव जीवन में हास्य का विशिष्ट स्थान है, अन्य भाव जैसे– क्रोध तथा प्रेम इत्यादि का अस्तित्व पशु–पक्षी आदि जीवों में देखा जाता है, परन्तु हास्य का सीधा सम्बन्ध मनुष्य के जीवन से होता है। जब समाज को दिन–प्रतिदिन घटित होने वाली घटनायें पीड़ित करने लगती हैं, तब एक सच्चे कलाकार का मस्तिष्क इन पर विचार–विमर्श करने के लिये विवश हो जाता है। समाज की घटनाओं का उत्तरदायित्व समाज के ही व्यक्तियों पर ही रहता है। यदि कोई प्राणी संयोगवश अपनी धार्मिक प्रतिष्ठा और राजनीतिक अधिकार के कारण श्रद्धा तथा सम्मान का पात्र बन जाता है परन्तु गुप्तरूप से समाज के हित के विरुद्ध कार्यों में लिप्त रहता है, तो उसे सम्पूर्ण समाज को पतन की ओर ले जाने का दोषी ठहराया जाता है। ऐसे व्यक्ति कलाकारों की लेखनी के लिए प्रेरणादायक के स्रोत बन जाते हैं। इनके चारित्रिक दोषों का भंडाफोड़ (खुलासा) करना लेखक के लिए समाज के हित की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक हो जाना है। हास्य की कलम तलवार से भी अधिक मजबूत होती है। जिसका आघात तो बाहर से नहीं दिखाई पड़ता, परन्तु उसकी चोट भीतर से मर्म को घायल कर देती है और वह अपने अभिष्ट सिद्धि में सफल हो जाती है।[1]

भारत एक धर्म प्रधान देश है। धर्म के आचार्यों के हाथों में समाज के नेतृत्व की बागडोर सदा से रही है परन्तु आज भारत में राजनीतिक नेताओं का बोलबाला हो गया है। कभी यहाँ पर धर्म आचार्यों के हाथ में समाज को बनाने तथा बिगाड़ने की महती शक्ति प्राप्त थी, तो कभी धार्मिक जगत का नेतृत्व बौद्ध भिक्षुओं के हाथ में होता था। उस समय भिक्षुओं को त्याग और तपस्या की उज्ज्वल मूर्ति का प्रतीक माना जाता था। बिहार बौद्ध मठों को उच्च कोटि की चारित्रिक साधना की भूमि का प्रतीक माना जाता था परन्तु आज मानवीय दुर्बलताओं के शिकार हो जाने के कारण इस पवित्र चरित्र का सर्वथा लोप हो गया है। बौद्ध भिक्षुणी राजाओं के पुत्र एवं पुत्रियों की देख–रेख में अपने को व्यस्त रखती थी अन्य धर्मों में भी यही दशा होने लगी थी। मध्य काल में मुसलमानों का राज्यकाल भी आया। जिससे आस–पास का वातावरण दूषित हो गया। इसी कारण से मध्य युग के धार्मिक क्षेत्रों में भ्रष्टाचार की विशेष वृद्धि हुई थी और इस युग में विशेष प्रकार के प्रहसनों की रचना हुई।[2]

संस्कृत साहित्य के प्रहसन अत्यन्त समृद्ध है, रूपक के दस भेदों में एक भेद प्रहसन होता है। संस्कृत प्रहसनों में

*असि0 प्रो0, संस्कृत विभाग, राजकीय महाविद्यालय, काण्डा, बागेश्वर (उत्तराखण्ड)

मार्मिक व्यंग्य होने के कारण उनकी बड़ी ख्याति और लोकप्रियता रही है। इस रूपक के भेद के द्वारा हास्य प्रदर्शित करके मूर्खों और स्त्रियों की नाट्य के विषय में अभिरुचि उत्पन्न की जाती है।

सामाजिक एवं सांस्कृतिक चित्रण

समाज :– समाज शब्द की व्युत्पत्ति 'सम्' उपयर्ग पूर्वक अज् धातु में घञ् प्रत्यय के योग से हुई है। जिसका अर्थ है पशुओं से भिन्न 'समूह' 'सभा' आदि। समाजशास्त्र में समाज एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। इसे भली–भांति समझकर ही समाजशास्त्र का सम्यक् ज्ञान सम्भव है, जहाँ जीवन है वहाँ समाज भी है। व्यक्ति और समाज में पारस्परिक निर्भरता प्रचुरता से पायी जाती है जहाँ व्यक्ति के परस्पर सम्बंध स्थापित कर समाज के निर्माण और विकास में सहायता ही है। साहित्य समाज की उपज है अतः उसका अध्ययन समाज के परिप्रेक्ष्य में किया जाना चाहिए।[3]

समाज में भौगोलिक पर्यावरण में भिन्नता होते हुए भी मूलभूत एकता एवं विचार साम्य के दर्शन होते हैं। डा नगेन्द्र ने भारतीय साहित्य के सन्दर्भ में कहा है– ''जिस प्रकार अनेक धर्मों, विचार धाराओं और जीवन प्रणालियों के रहते हुए भी भारतीय संस्कृति की एकता असंदिग्ध है, इसी कारण से अनेक भाषाओं की मूलभूत एकता का अनुसंधान सहज संभव है''।[4] अतः इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसका जीवन समाज के ही सीमाओं में बनता टूटता है। इसकी उसकी विचारधारा समाजिक परिवेश में जन्म लेती है और साथ ही विकसित होती है। या विभिन्न होकर बिखरती है। उसकी आकांक्षाओं की साकारता भी समाज में ही सिद्ध होती है। व्यासराज शास्त्री के 'चामुण्डा प्रहसन'[5] में विधवा स्त्री की प्रति विरोधी समाज का वर्णन प्राप्त होता है इसमें विधवा को हेय दृष्टि से देखा जाता है। जब यही (विधवा) स्त्री डॉ0 बनकर उसी गांव एवं जनसमाज के बीच आती है और उन्हीं विरोधियों में से किसी एक विरोधी के घर की बहू के बीमार होने पर उस विधवा स्त्री द्वारा उसका इलाज किया जाता है और वह स्वस्थ हो जाती है तब सभी लोग उस स्त्री को साधुवाद देते हुए समाज में उचित सम्मान देते हैं।

समाज में जिस प्रकार आज नेता अपने विजय होने के लिए जनता को विभिन्न प्रकार के प्रलोभन देते हैं और बाद में धराशायी हो जाने पर उन विचारों पर कोई चर्चा नहीं करते इसी तरह का वर्णन 'अथकिम् प्रहसन'[6] में देखने को मिलता है। इसमें डंकार नामक पात्र (नेता) बहुमत मांगने के लिए गण्डक एवं धनक के पास जाता है और उनको विभिन्न प्रकार के प्रलोभन देता है जैसे– पुरानी रीति को बदलना होगा, नये–नये कारखाने खुलेंगे, सब को ऊंचा वेतन मिलेगा इत्यादि। ठीक इसी प्रकार का वर्णन 'स्वर्गीय हसन'[7] नामक प्रहसन में मिलता है। इसमें बृहस्पति वृद्ध होने के पश्चात् भी देवराज बनने के लिए स्वर्ग में अपना शासन स्थापित करने के लिए तरह–तरह के कुटिल चालों को चलने से भी नहीं चूकता है।

संस्कृतिः– संस्कृति शब्द की व्युत्पत्ति सम् उपसर्ग पूवर्क 'कृ' धातु से सुट् के आगमन से क्तिन् प्रत्यय लगाकर होती है। अर्थात्– परिष्कार करके सम्यक् रूप से किये हुए कार्य जिसका सम्बन्ध मनुष्य के शरीर, प्राण, मन और बुद्धि से होता है। जिसके द्वारा मनुष्य के मानवीय गुणों का दिग्दर्शन किया जाता है।[8]

संस्कृति एक सामाजिक विरासत है जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक निरन्तर चलती रहती है। किसी भी देश की संस्कृति उस देश की सभ्यता का वह सुन्दर पुष्प है जिसके द्वारा वहाँ के आन्तरिक जीवन की सुगन्ध मिलती है। संस्कृति एक सामाजिक प्रक्रिया है जिसका विकास सामाजिक वातावरण में ही होता है, क्योंकि इसमें सामाजिक अभिव्यक्ति होती है। किसी भी राष्ट्र की संस्कृति उस राष्ट्र के जीवन की एक विशेष शैली है। उसका जीवन के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण है। जिसे वहाँ के निवासी वहाँ की प्रकृति के साथ सामन्जस्य स्थापित करने के प्रयास में तथा मानवता की अनुभूति की कल्पना में विकसित करते हैं। जीवन का यह दृष्टिकोण उस राष्ट्र के प्रत्येक पहलू में झलकता दिखाई देता है। संस्कृति का उद्देश्य मानव का कल्याण करना है। संस्कृति मनुष्य की भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगीण रूप है। मानव जीवन का जितना भी वैभव है उसकी सृष्टि मनुष्य के मन, प्राण और शरीर के दीर्घकालीन प्रयत्नों का परिणाम है। धर्म, दर्शन, साहित्य, कला आदि संस्कृति के अंग हैं। भारतीयों में प्राचीन वस्तुओं के प्रति असीम अनुराग रहा करता है। इसी कारण से यहां कोई सांस्कृतिक धारा कभी भी सर्वथा लुप्त नहीं हो सकी, भले ही वह रूपान्तरित होकर अन्य सांस्कृतिक धाराओं में परिवर्तित हो गयी हो, परन्तु आज भी प्राचीन काल के जीवन के आदर्श, वेश–विन्यास, धर्म, रहन–सहन और आचार व्यवहार की परंपरा ठीक उसी रूप में दिखायी देती है जो कई वर्ष पहले साधारण रूप में प्रचलित थी–

येनास्थ पितरो यातः येन यातः पितामहाः
तेन यथात्सतां मार्गेतेन गच्छन रिष्यते।।[9]

धर्म :– वामन शिवराम आप्टे के शब्दकोषानुसार 'धर्म' शब्द घृअं धारणे धातु मैं 'मन्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है।[10] जिसका शाब्दिक अर्थ है– धारण करना या आश्रय देना। इसके अतिरिक्त 'धर्म' शब्द सम्प्रदाय आदि के प्रति आचार का पालन करना, कानून, दस्तूर, प्रचलन, प्रथा तथा शास्त्रविहित आचरण या कर्म के अर्थ में प्रचलित है। महाभारत में कहा गया है– ''धारणात् धर्ममित्याहुः धर्मेण विधृताः प्रजाः।[11]

धार्मिक परिवेश :– धर्म आंतरिक एवं बाह्य दो रूपों में पाया जाता है। अपने आंतरिक रूप में धर्म और मानव मात्र में अनुभूति के रूप में किसी अदृश्य सत्ता पर केन्द्रित है और अपने बाह्य रूप में धर्म एक धार्मिक संस्था है। हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई आदि धर्म की बाह्य अभिव्यक्तियाँ हैं और विभिन्न धर्मों के लोगों में अपनी पहचान बनाए रखने के लिए मंदिर, मस्जिद, चर्च और गुरूद्वारा आदि संस्थाएँ बनायीं। धर्म की उत्पत्ति मानव कल्याण हेतु हुई है और धर्म मानव जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है। मनुष्य के शरीर का पोषण खाद्य पदार्थों द्वारा होता है। मस्तिष्क का पोषण विभिन्न प्रकार की ज्ञान–विज्ञान की शाखाओं के अध्ययन द्वारा हो जाता है परन्तु आत्मा का विकास 'धर्म' के द्वारा ही सम्भव है। धर्म के द्वारा मानव खाने, पीने, हंसने, रोने से ऊपर जीवन श्रेष्ठ यापन करता है। धर्म के कारण समाज में शिक्षा को प्रोत्साहन मिला। धर्म के कारण पाप–पुण्य नियमों में बंधकर समाज नियन्त्रित रहता है। अतः समाज व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए धर्म को समाज से अलग नहीं किया जा सकता है। 'भट्ट संकट'[12] नामक प्रहसन में भट्ट की पत्नी कर्कशा होने के साथ–साथ कुरूप भी है। उसे राक्षस बन्दी बनाकर अपने साथ ले जाते हैं। परन्तु भट्ट फिर भी धर्मानुसार सपत्नीक यज्ञ करने के लिए अपनी पत्नी का किसी गूढ़ पुरुष की सहायता से पता लगा लेता है और उसे राक्षसों के बंधन से मुक्त करा लेता है। इस तरह भट्ट पत्नी के साथ मिलकर यज्ञ पूर्ण करता है। इसी प्रकार दो अंकों में विभक्त 'चंड तांडव'[13] नामक प्रहसन में हिटलर, स्टालिन, मुसोलिनी तथा अन्य अधार्मिक एवं वैषम्यपूर्ण तत्वों का चित्रण किया है। इन तीनों द्वारा देश में अधार्मिक तत्वों को बढ़ावा देने के लिए तरह–तरह के षडयंत्र रचे जाते हैं कि वे भारत देश में किस प्रकार अपना साम्राज्य स्थापित करें।

वर्ण व्यवस्था :– वर्ण व्यवस्था भारतीय संस्कृति की अपनी एक अनूठी एवं अनुपम सामाजिक विशेषता है। किसी भी समाज या समूह की उन्नति के लिए जिन प्रमुख मानवीय कार्य व्यापारों का होना वांछनीय बताया है उन सब तथ्यों पर विचार–विमर्श करके ही हमारे मनीषियों द्वारा अपनायी गयी यह व्यवस्था वर्ण व्यवस्था के नाम से प्रख्यात है। जहां पहले समाज में ब्राह्मण को इतना श्रेष्ठ स्थान प्राप्त था वहीं आज समाज में ब्राह्मण की प्रतिष्ठा में निरन्तर धीरे–धीरे कमी आ रही है। जिस कारण ब्राह्मण अपने कर्त्तव्यों से विमुख होता जा रहा है जिससे आज ब्राह्मण अपमानित व उपहास का पात्र बन रहा है। ठीक इसी प्रकार का वर्णन श्री जीवन्यायतीर्थ के 'दरिद्र–दुर्दैव'[14] नामक प्रहसन में मिलता है। इसमें ब्राह्मण वक्रेश्वर अपने परिवार का भरण–पोषण नहीं करना चाहता है और घर छोड़कर चले जाने की बात करता है। वह अपने परिवार के कर्त्तव्यों का निर्वाह नहीं करना चाहता है। जिससे आज ब्राह्मण समाज में कर्त्तव्य विहीन के साथ–साथ उपहास का पात्र बनता जा रहा है।

विवाह :– प्राचीन धर्मशास्त्रों के अनुसार विवाह एक धार्मिक कृत्य है। मानव जीवन जिन चार आश्रमों ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास में बंटा है उनमें गृहस्थ आश्रम सबसे प्रधान एवं सब आश्रमों का आधारभूत आश्रम है। हिन्दू विवाह के आठ स्वरूप का उल्लेख मिलता है।[15]

1– ब्रह्म विवाह
2– दैव विवाह
3– आर्य विवाह
4– प्राजापत्य विवाह
5– असुर विवाह
6– गन्धर्व विवाह
7– राक्षस विवाह
8– पैशाच विवाह।

विवाह से मानव जीवन का प्रारम्भ होता है। इसमें मनुष्य के द्वारा पारिवारिक संबधों के साथ सन्तानोत्पत्ति के कर्त्तव्यों का भी निर्वाह करना होता है। परन्तु 'विधी–विपर्यास'[16] प्रहसन में नर–नारी में प्राकृतिक और मौलिक दो अन्तर बताये गये हैं। इन दोनों भेदों को प्रहसनकार द्वारा समान बनाने का काल्पनिक प्रयास किया जाता है। परन्तु फिर भी अन्त में ब्रह्म द्वारा बनाये गये नियम को ही विनोद सर्वश्रेष्ठ मानता है।

परिवार :– मानव संस्कृति का शुभारम्भ पारिवारिक जीवन से होता है। भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के विकास में भी परिवार का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। प्रारम्भिक अवस्था में काम–तृप्ति के लिए पुरुष तथा स्त्री के बीच जो सम्बन्ध स्थापित होता है उससे एक सुसभ्य परिवार का गठन होता है। वस्तुतः मानव जीवन की पूर्णतया आधारभूत इकाई परिवार ही है। समाजशास्त्रियों के अनुसार family शब्द का उद्‌गम लैटिन शब्द famalù से हुआ है जो एक ऐसे समूह के लिए प्रयुक्त हुआ है जिसमें माता–पिता, बच्चे, नौकर और दास रहते हैं। साधारण अर्थों में विवाहित जोड़े को परिवार की संज्ञा दी जाती है। परिवार में पति–पत्नी एवं बच्चों का होना आवश्यक होता है। जिसमें से किसी एक के अभाव में हम उसे परिवार न कहकर गृहस्थ कहेंगे। सामाजिक संगठन का मूल आधार परिवार है। परिवार में पति द्वारा पत्नी का भरण–पोषण करने के साथ उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करना भी पति का ही कर्त्तव्य होता है, जबकि 'चिपिटक–चर्वण'[17] नामक प्रहसन में कंजूस कपाली इन सब पारिवारिक कर्त्तव्यों से विमुख होकर कार्य करता है। इसी प्रकार का 'विमुक्ति' नामक प्रहसन में भी देखने को मिलता है।

शिक्षा :– 20वीं शताब्दी के पूवार्द्ध का समाज आर्थिक सीमाओं में बंधकर रहने के कारण अधिक विकसित न हो सका। क्योंकि उस समय शिक्षा का इतना प्रसार नहीं था। भारतीय हिन्दू समाज, ग्राम पंचायतों, जाति व्यवस्था और संयुक्त परिवारों द्वारा ही नियंत्रित होता था। उचित ज्ञान एवं शिक्षा के अभाव में समाज में रूढ़िवादी परम्परा, रीति–रिवाज तथा धर्म के नाम पर अनेक कुरीतियों को जन्म दिया है। वर्ण व्यवस्था, दहेज समस्या, विवाह समस्या, विधवा समस्या, बहुविवाह, जाति प्रथा, वेश्या समस्या आदि कुछ ऐसी समस्याओं ने समाज के विकास को अवरुद्ध कर दिया है।

तत्पश्चात 20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रुढ़िवादी मान्यताओं का कड़ा विरोध करके समाज सुधारकों ने समाज में एक विशेष परिवर्तन लाने का प्रयास किया है। जिसमें जाति–व्यवस्था का निषेध, विधवा–विवाह, बाल–विवाह का विरोध, नारी शिक्षा आदि का अनेक दिशाओं में सुधार के प्रयास किये गये हैं। सर्वप्रथम इस परिवर्तन का श्रेय राजा राम मोहन राय को प्राप्त हुआ। प्राचीन कालीन प्रहसनों से ज्ञात होता है कि उस समय में शिक्षा के स्तर में कुछ गिरावट थी परन्तु तत्कालीन समाज में धार्मिक शिक्षा पर अधिक बल दिया गया है। जिससे ब्राह्मणों को अधिक शिक्षित होने के अवसर प्राप्त होते थे। प्राचीनकाल से लेकर 19वीं शताब्दी तक के प्रहसनों का सम्यक् अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि प्राचीन और मध्य में विद्यालयी शिक्षा नहीं दी जाती थी, ना ही इस पर कोई विशेष बल दिया जाता था। अतः तत्कालीन समाज में शिक्षा सूचारु रूप से नहीं चलती थी। गुरु और शिष्य की आपस में थोड़ी सी नोंक–झोंक होती रहती थी। इसी तरह का वर्णन 'उभयरूपकं'[18] प्रहसन में भी है। इसमें शहर में पढ़ने वाला युवक में छागल का अपने पैतृक निवास से मोह समाप्त हो जाता है। वह चार शब्द अंग्रेजी के क्या बोलने लगता है खुद को गांव वालों से अलग समझने लगता है। अतः इस प्रहसन में छागल की संकुचित मनःस्थिति को दर्शाया गया है।

बेरोजगारी :– जब काम की कमी और काम करने वालों की अधिकता रहती है तब बेकारी या बेरोजगारी की समस्या उत्पन्न होती है। भारत एक कृषि प्रधान देश है, लोग अधिकांशतः गाँवों में रहते हैं। इधर सदियों तक देश में विदेशी शासन रहा। उन शासकों ने जनता के एक वर्ग को बढ़ने का अवसर ही नहीं दिया। जिससे वह वर्ग अपनी अशिक्षा, दीनता, मानसिक और बौद्धिक दुबर्लता को हटा नहीं पाया। इससे समाज में असमान आर्थिक व्यवस्था बन गई। स्वतन्त्रता के पूर्व अंग्रेजों के शासन काल में भी यह क्रम ज्यों का त्यों चलता रहा। भारत विभाजित होकर स्वतन्त्र हुआ। एकाएक देश में बेकारी की समस्या हो गयी। इस समस्या के अनेक कारण हैं। यह समस्या देश जाति, समाज तथा व्यक्ति सबके लिए उस समय तक घातक हो जाती है जब यह असन्तोष उत्पन्न करने लगती है। आज समाज में कतिपय ऐसी बातें आ गई हैं जिससे काम की कमी और बेकार लोगों की अधिकता हो गई है। इसी कारण बेरोजगारी एक समस्या बनकार राष्ट्र के सामने खड़ी है।[19] बेराजगारी के कारण आज व्यक्ति किसी भी तरह का कार्य करने के लिए तत्पर हो जाता है। 'अनंगदा'[20] प्रहसन में बेराजगारी के रहते दोनों भाई–बहन सेठ के दोनों पुत्रों को विवाह के लिए रिझाते हैं ताकि उन्हें सेठ के पुत्रों से अच्छा धन प्राप्त हो जाए। और इस कार्य में दोनों भाई–बहन सफल भी हो जाते हैं। इस प्रकार का वर्णन 'मणिकांचन समन्वय'[21] प्रहसन में भी देखने को मिलता है। इसमें दुर्दक नामक धूर्त मिट्टी के घड़े में गुड़ बेचता है। दोनों ही सामान्य लोगों को ठगने का कार्य करते हैं।

इस प्रकार 18वीं शताब्दी के संस्कृत प्रहसनों के समय में संगीत की कला अत्यन्त उन्नत दशा में थी तथा मनोरंजन हेतु अनेक प्रकार के वाद्य यन्त्रों का उपयोग किया जाता था। जिससे संगीत लोगों के लिए रुचिकर बन सके और वे इसका अधिकाधिक आनन्द प्राप्त कर सकें। संस्कृत प्रहसनों पर तत्कालीन समाज एवं संस्कृति का प्रभाव परिलक्षित होता है। साथ ही प्रहसनकार उन समस्त समाजिक परिस्थितियों को अपने प्रहसनों में प्रस्तुत करने में पूर्णरुपेण सफल भी हुए हैं।

सन्दर्भ सूची

1 उपाध्याय बलदेव, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ 585
2 उपाध्याय बलदेव, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ 585–586
3 कोडवैल क्रिस्टोफर, इलूजन एण्ड रियल्टी पृ 14
4 डॉ0 नागेन्द्र, भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता पृ 28
5 मद्रास चिन्ताद्रि पेट से प्रकाशित
6 संस्कृत साहित्य परिषद् पत्रिका 1972 में कलकत्ता से प्रकाशित
7 संस्कृत साहित्य परिषद् पत्रिका में कलकत्ता से प्रकाशित
8 रूचिकुलश्रेष्ठ, 20वीं शताब्दी का संस्कृत लधु कथा साहित्य पृ 65
9 मनुस्मृति 2/178
10 आप्टे वामनशिवराम, संस्कृत हिन्दी शब्दकोश पृ 489
11 व्यास, महाभारत कर्णपर्व, 69,58
12 उपाध्याय रामजी, आधुनिक संस्कृत नाटक पृ0 863,864
13 आचार्य पंचानन स्मृतिग्रन्थमाला एवं संस्कृत साहित्य परिषद् पत्रिका में कलकत्ता से प्रकाशित
14 उपाध्याय रामजीआधुनिक संस्कृत नाटक पृ0 867,868
15 मनुस्मृति 327,328,329,330
16 उपाध्याय रामजी, आधुनिक संस्कृत नाटक पृ 848
17 रूपकचक्रम नामक संग्रह में 1972 कलकत्ता से प्रकाशित
18 उद्यान पत्रिका में 1962 में तन्जौर से प्रकाशित
19 सक्सेना भुवनेश्वरीचरण, आधुनिक हिन्दी निबंध पृ0 217
20 भारती पत्रिका 9.1 में जयपुर से प्रकाशित
21 मंजूषा के 14.4 में कलकत्ता से प्रकाशित